विवाह संस्कारों में विकृतियाँ न जोड़ें

– श्रीराम शर्मा आचार्य

विवाह संस्कारों में विकृतियाँ न जोड़ें

किसी महान प्रयोजन को लक्ष्य मानकर चलने वाले धर्मसेवी, लोकसेवी, परिव्राजक स्तर के महापुरुष तो अविवाहित जीवन में भी सुविधा अनुभव करते हैं, पर सामान्यजनों को सामान्य जीवन में विवाहित रहकर काम चलाना ही सुविधाजनक पड़ता है । इसमें प्रकृति की प्रेरणायें भी पूरी होती हैं । पेट की भूख कमाने के लिये बाधित करती है और वंश वृद्धि की ललक कामुकता के रूप में गृहस्थी बसाने की प्रेरणा देती है । साधारणतया इन्हीं दो कार्यों की श्रृंखला जीवन अवधि को व्यस्तता के बीच पूरी कर देती है । जीवन शकट इन्हीं दो प्रयासों की लीक पर घिसटता रहता है और आयुष्य की अवधि पूरी कर लेता है । यही प्रचलन भी है और यही सर्वसुलभ और सुविधाजनक भी । तरुणाई के आगमन वाले दिनों में सामान्यतया ऐसी प्रकृति प्रेरणा होती है कि जोड़ा बनाकर रहें । नये रक्त के साथ जुड़ी हुई उमंगें इसके लिये प्रेरित भी करती हैं । जिन्हें किसी महान लक्ष्य की प्राप्ति के लिये जीवन समर्पण करना है, उन्हें छोड़कर सामान्यजन विवाह की इच्छा करते और उसका सरंजाम भी जुटाते हैं ।

इस संदर्भ में उससे अधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता है, जितनी कि आमतौर से बरती जाती है । लोग सुन्दर शरीर वाला साथी पाने की फिराक में रहते हैं । चयन प्रायः इसी आधार पर हो सका तो प्रसन्नता व्यक्त की जाती है । इसके अतिरिक्त लड़के का कमाऊ और लड़की का चुलबुलापन भी पसन्दगी का एक कारण माना जाता है । जहाँ इतनी ही ढूँढ़-खोज रहती है, वहाँ अड़चन पड़ती है । अनेकों प्रस्ताव अस्वीकृत करने पड़ते हैं, क्योंकि भारत, भारत है । इस देश में औसत रंग-रूप के नर-नारी उत्पन्न होते हैं । किसी भी घर-परिवार को देखभाल लिया जाय, उसके सदस्य औसत रंग-रूप के मिलेंगे । पर जब इस सामान्य उपलब्धि से आगे बढ़कर विशेष रूपवानों

की खोज होती है, तो वह सहज सर्वत्र उपलब्ध न होने के कारण अगणित प्रस्तावों में से कहीं कोई एक बड़ी कठिनाई से पसन्द आता है । उस पसन्दगी में लड़के वाले ही सब कुछ नहीं होते, लड़की वाले भी अपनी बच्ची के अनुरूप लड़का खोजते हैं । यदि उसमें कमी रही तो विवशता की बात दूसरी है अन्यथा उसे रद्द कर दिया जाता है या फिर मजबूरी में जैसे-तैसे गले उतारा जाता है और सदा असमता की शिकायत ही बनी रहती है । खुले शब्दों में न कहा जाय तो भी मन में असन्तोष बना ही रहता है । जैसी चाहिये वैसी सघनता बन नहीं पाती । दाम्पत्य जीवन अधूरा ही रह जाता है । यह असन्तोष कई बार तो इच्छित साथी ढूँढ़ने लगता है और व्यभिचार का मार्ग भी पकड़ लेता है । अति रूप की स्थिति में प्रायः यह खतरा बना ही रहता है ।

इसलिये अच्छा यही है कि औसत भारतीय स्तर के लड़के-लड़की ढूँढ़कर विवाह रचा दिया जाय । दुर्लभ वस्तु में प्रतिस्पर्द्धा भी खड़ी होती है । प्रस्ताव अनेक आते हैं । चयन एक का होना है, ऐसी दशा में अनेक इच्छुकों को निराश भी होना पड़ता है । इस सम्बन्ध में लम्बी खोजबीन चलती रही तो आयु अधिक बढ़ जाती है और उपयुक्त जोड़ा मिलना कठिन हो जाता है । फिर लड़के की खूबसूरती अधिक रही तो लड़की वाले को उसकी कीमत अधिक दहेज देकर चुकानी पड़ती है । सुन्दर लड़कियों के गृहस्थी में पड़ने के बाद भी नखरे तो बने ही रहते हैं । यदि उनकी शिक्षा ऊँची रही तो फिर नौकरी की तलाश रहती है । नियुक्ति भिन्न-भिन्न स्थानों पर होने की दशा में प्रायः दोनों पक्षों को एकाकी जैसा स्वतंत्र जीवन बिताना पड़ता है । यह स्थिति न तो संतोषजनक है और न सुविधाजनक । विवशता हो तो ही इस स्थिति को स्वीकारना पड़ता है । विवाह का उद्देश्य सफल होने की यदि कामना हो तो रंग-रूप को प्राथमिकता नहीं देनी चाहिये । औसत स्तर ही सुखद और सत्परिणामदायक मानकर चलना चाहिये ।

आयु की मर्यादा ध्यान में रखी जाय :

छोटी आयु में विवाह करना हर दृष्टि से हानिकारक है-विशेषतया लड़कियों के लिये । आयु के परिपक्व होने से पूर्व विवाह कर देने पर लड़कियों के ससुराल के अजनबी लोगों के बीच

पहुँच जाने पर अजनबी वातावरण में नये किस्म के दबाव, भार में काम करने के कारण उनका मानसिक विकास रुक जाता है । वे अपने को असहाय, विवश, दीनहीन, पीड़ित अनुभव करने लगती हैं । इससे व्यक्तित्व दब जाता है । एक नौकरानी से अधिक उनकी भूमिका नहीं रह जाती । इस अनाचार जैसे दबाव में लड़कियों के फँसाने में अभिभावकों को उतावली नहीं बरतनी चाहिये । उनकी आयु बढ़ने देनी चाहिये । व्यक्तित्व की परिपक्वता का आयु के साथ सीधा सम्बन्ध है । अल्पवयस्क या अविकसित की परिभाषा कानून में भी निर्धारित है । अठारह वर्ष से कम आयु की लड़की का और इक्कीस वर्ष से कम आयु के लड़के का विवाह करना जुर्म है । सरकार के सामने ऐसे प्रमाण उपस्थित होने पर दोनों पक्षों को सजा हो सकती है और विवाह भी रद्द हो सकता है ।

यह न्यूनतम आयु मर्यादा उपयुक्त या सुविधाजनक नहीं । वोट देने का अधिकार अब लड़की एवं लड़के को १८ वर्ष की आयु के बाद ही मिलता है । पहले यह आयु सीमा २१ वर्ष थी । इस निर्धारण के पीछे यही मान्यता काम करती है कि अपरिपक्वता की सीमा को पार करने की आयु २१ वर्ष है । यह लडकी और लड़के दोनों पर समान रूप से लागू होती है । यही विवाह का उपयुक्त समय है । लड़कों के लिये भी और लड़की लिये भी । यदि विद्याध्ययन, उपयोगी अनुभव-अभ्यास में अधिक समय बीत जाय तो हर्ज नहीं, पर जब तक गृहस्थ की जिम्मेदारी समझने, निबाहने का समय नहीं आया है, तब तक उसकी प्रगति के मार्ग में व्यवधान उत्पन्न न किया जाय तो ही ठीक है । विकसित देशों और विकसित वर्गों में यह आयु पच्चीस के उपरान्त ही सही मानी जाती है । इससे पूर्व शिक्षा, योग्यता, अनुभव, व्यक्तित्व, प्रतिभा उपार्जन का समय है । उसे रोककर विवाह के बन्धन में बाँध दिया जाय तो इसका अर्थ यह है कि विकास क्रम में समय से पूर्व ही अवरोध उत्पन्न कर दिया गया और बढ़ी हुई योग्यता के आधार पर जो लाभ जीवन भर उठाया जा सकता था उससे वंचित रहने के लिये विवश कर दिया । यह निर्णय लड़की और लड़के दोनों पर ही समान रूप से लागू होता है ।

यदि कानून की पकड़ से निकलते ही १८ वर्ष की लड़की

का विवाह कर दिया गया है तो ससुराल वालों का कार्य बनता है कि कन्या पक्ष ने उतावली करके लड़की को जिस योग्यता वृद्धि से वंचित रख दिया है, उसकी पूर्ति वे लोग करें । १८ से २५ के मध्य सात वर्ष बचते हैं, इस समय में ससुराल वाले यही समझें कि पितृपक्ष का अधूरा उत्तरदायित्व उन्हें पूरा करना है अर्थात् वधू को पच्चीस वर्ष की होने तक शिक्षा का, योग्यता, प्रतिभा और शारीरिक-मानसिक परिपक्वता प्रदान करने का कार्य उन्हें पूरा करना है । जिस प्रकार लड़कियाँ स्कूल जाती हैं उसी प्रकार बहुयें भी पढ़ना जारी रखे रहें तो कोई हर्ज नहीं । वस्तुतः यह छूट उन लोगों की सहृदयता-सज्जनता में ही शुमार होगी ।

बाल विवाह एक अभिशाप :

विवाह का स्वरूप इन दिनों अनेक दृष्टियों से बड़ा ही विकृत हो गया है । पिछड़े क्षेत्रों में बाल-विवाह का रिवाज है । उसे मात्र एक उत्सव समझा जाता है और उसे कर गुजरने के एक कौतूहल में निवृत्ति या झंझट से छुटकारा मान लिया जाता है । कुछ लोग इस तरह भी सोचते हैं कि जिस लड़की को पराये घर जाना ही है, उसके लालन-पालन पर अधिक दिनों क्यों खर्च वहन किया जाय । इसी प्रकार ससुराल वाले घर में एक नया खिलौना बुलाने में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं । काम-धन्धे में सहारा मिलने की बात सोचते हैं । यह पिछड़ा हुआ चिन्तन इस समझदारी के युग में भी बाल विवाह को जीवित रखे हुए है । अबोध बालकों तक के विवाह होते हैं । भारत में अक्षय तृतीया के दिन तो अगणित बच्चों के सम्बन्ध तब कर दिये जाते हैं, जब वे गोद में खेल रहे होते हैं । रूढ़िवादी शास्त्र की दुहाई देकर बारह-चौदह वर्ष से भी कम की आयु वाली लड़की का कन्यादान शुभ मानते हैं । यह सब लोग यह नहीं सोचते कि इस मूढ़मान्यता का दुष्परिणाम क्या होगा ? लड़की के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का चौपट हो जाना सुनिश्चित है । इस बर्बादी की चपेट में वह लड़का भी आता है जिसे इन्हीं के रूप में देखने का शौक उसके अभिभावकों को चर्राया था । ऐसी लड़की की पढ़ाई तो आगे हो ही नहीं पाती, शारीरिक अभिवृद्धि भी रुक जाती है । दुर्बलता जन्य अनेक व्यथायें उन्हें घेर लेती हैं । आगे बढ़ने, ऊँचे उठने की

महत्वाकांक्षा समाप्त हो जाती है । बचपन से ही उन्हें गृहस्थ चलाने का ताना–बाना बुनना पड़ता है । इसे जवानी में बुढ़ापे का आगमन कहा जा सकता है ।

विवाहोत्सव का चित्र–विचित्र सरंजाम :

विवाह उत्सव की धूमधाम देखने की उतावली ठीक वैसी ही है, जैसी मेले–ठेले का या आतिशबाजी चलाने का मनोरंजन । उन मेलों में ज्यादा मनोरंजन होता है जिनमें धूमधाम अधिक रहती है । विवाह शादियों में ही ऐसे खर्चीले सरंजाम जुटाये जाते हैं । आतिशबाजी, बैण्डबाजे, सजधज की लम्बी–चौड़ी बारात, भेंट उपहार में तरह–तरह की वस्तुओं का प्रदर्शन, आदान–प्रदान मनोरंजन के चित्र–विचित्र सरंजाम यही हैं, संक्षेप में विवाह शादियों के समय लूटी जाने वाली वाहवाही के प्रसंग । इन सबके लिये कितनी दौड़–धूप करनी पड़ती है, कितना सरंजाम जुटाना पड़ता है, कितना पैसा खर्च करना पड़ता है इसे भुक्तभोगी ही समझते हैं । यह गरीबों द्वारा रचा गया अमीरी का स्वांग है, जिसमें दोनों पक्ष के परिवार बुरी तरह बर्बाद हो जाते हैं ।

दर्शकों को बढ़ा–चढ़ा तमाशा देखने में मजा आता है । वे इसके लिये उकसाते भी हैं । उसे प्रतिष्ठा का प्रश्न बताते या बनाते हैं । जिसने शादी में जितनी अधिक धूमधाम जुटायी, उसे बड़ा आदमी, अमीर, बड़े दिल वाला, खानदानी आदि की उपाधि दी जाती है । मूर्ख व्यक्ति उसी तरह गुब्बारे की तरह फूल भी जाता है । विवाह के अवसर पर इस नादानी का नग्न प्रदर्शन कहीं भी देखा जा सकता है ।

इस पृथ्वी पर अनेकों देश बसे हैं । उन सभी में अपने–अपने रीति–रिवाजों के अनुसार विवाह होते रहते हैं, पर कहीं भी ऐसी धूमधाम नहीं होती, मानों २ समान को सिर पर उठाया जा रहा हो । घरेलू उत्सव की तरह इष्ट–मित्र थोड़ी संख्या में उपस्थित होते हैं । बधाई, उपहार की, गायन–वादन की, चाय–पानी की रस्म पूरी होती है और घण्टे दो घण्टे के बीच यह सारा काम पूरा हो जाता है । पैसे का खर्च उतना ही होता है जितना पारिवारिक त्यौहारों में हुआ करता है । समझदारी की बात यही है ।

स्वाभाविकता भी इसी में है, पर अपने यहाँ तो 'तीन लोक से मथुरा न्यारी' की कहावत के अनुसार विवाह एक महाभारत जीतने जैसा मोर्चा है । उसमें मारकाट तो नहीं मचती पर तनाव का माहौल आदि से अन्त तक बना रहता है । साधारण-सा कृत्य प्रतिष्ठा का प्रश्न बन जाता है और समझा जाता है कि जिसका विवाह जितनी धूम-धाम से हुआ, उसका खानदानी रुतबा उतना ही ऊँचा बढ़ गया । इस प्रतिष्पर्द्धा में दोनों पक्ष अपना पैसा होली की तरह जलाते हैं और उस आतिशबाजी का ऐसा मजा लेते हैं मानों नोटों के रूप में कहीं से कूड़ा-कचरा पड़ा मिल गया हो और उसे हटाने के लिये जला देने जैसी विधा अपनायी जा रही हो ।

अमीर अपनी हराम की कमाई को फुलझड़ी बनाकर जलायें तो बात कुछ समझ में भी आती है । बिना मेहनत की, बिना नीति-न्याय की कमाई यदि लोगों की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करने कि लिये, धन कुबेर होने की शेखी जताने के लिये फूँकी-उड़ाई जा रही हो तो उसकी कुछ तुक भी है, पर जहाँ रोज कुँआ खोदने, रोज पानी पीने वाले, किसी प्रकार गुजारा चलाने वाले लोग जब इस प्रकार के अपव्यय पर उतारू हों तो उनकी बुद्धि पर तरस करना पड़ता है । आश्चर्य भी होता है कि कमाई और बचत की आवश्यकता समझने वाला मनुष्य शादियों के समय क्यों इस प्रकार बौरा जाता है ? जैसे कि नशेबाज अपनी चौकड़ी में बैठकर एक-दूसरे से अधिक प्याले खाली करने की होड़ लगाते हैं और अन्त में नालियों में लुढ़क कर अपनी दुर्गति कर दुर्मति का परिचय देते हैं ।

विचारशीलता की हर कसौटी पर शादियों में होने वाली धूम-धाम किसी भी कसौटी पर न उपयोगी प्रतीत होती है न आवश्यक । लड़की-लड़के को अपना घर बसाना है । कुटुम्बी-सम्बन्धियों को उसमें साक्षी रहना है । बात इतनी भर है । इसमें धमाल खड़ा करने का क्या प्रयोजन हो सकता है ? गिरजाघर में जाकर ईसाई वर-वधू एक छोटी-सी प्रार्थना और रस्म पूरी करते हैं और विवाह कृत्य सम्पन्न हो जाता है । मुसलमानों के निकाह भी ऐसी ही सादगी के साथ सम्पन्न होते हैं । हिन्दू धर्म की विवाह पद्धति भी ऐसी ही छोटी है, जिसे संस्कार के एक-दो घण्टे के कर्मकाण्ड के साथ सहज ही निपटाया जा सकता है । जब

सर्वत्र सादगी की क्रिया-प्रक्रिया का प्रचलन है, तो अपने यहाँ ही क्यों ऐसा उन्माद चढ़े कि घर की सारी खुशहाली ही दोनों पक्ष निछावर करने के बाद दूसरे दिन से कंगाली और कर्जदारी के बंधनों में बँध कर उस दुर्दशा का त्रास लम्बे समय तक पाते रहें ।

इस घोर मँहगाई के समय में औसत गृहस्थ इतना ही कमा पाता है कि किसी प्रकार गुजारा चलता रहे । बचत कर सकने वाले तो सौ दो सौ पीछे कोई एक आध होता होगा । फिर कुछ बच सके तो उसकी आवयकता परिवार की स्वस्थता, शिक्षा, खुशहाली आदि बढ़ाने के लिये लगनी चाहिये । इनके अभाव में पिछड़ापन ही छाया रहता है । इसे दूर करना आवश्यक है । बचत को मकान बनाने, व्यवसाय बढ़ाने आदि में लगाया जाय तो उससे कुछ काम चलता है । बैंक में जमा कर दिया जाय तो वह पाँच वर्ष में ब्याज समेत दूना हो जाता है । दान, पुण्य और सामाजिक उत्कर्ष के काम में भी उसका सदुपयोग हो सकता है । इन सभी उपयोगी कार्यों की उपेक्षा करके शादियों के लिये पेट काटकर प्रगति प्रयोजनों को रोक कर शादियों में खर्च के लिये पैसा जमा करना किस प्रकार बुद्धिमानी में गिना जा सकता है ? इस प्रचलन के पीछे मूर्खता एवं अदूरदर्शिता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं खोजा-पाया जा सकता ।

यह अनावश्यक अपव्यय बन्द हो :

प्रचलन के अनुसार लड़की वाले को वर पक्ष के लिये नकदी, जेवर तथा सामान के रूप में दहेज देना पड़ता है । बारात की आव-भगत में ऐसा ठाट रोपना पड़ता है मानों कहीं से कोई बादशाह, अफसर किसी बड़ी जाँच पड़ताल के लिये आ रहे हों । दूसरी ओर लड़के वाले का भी खर्च कम नहीं पड़ता । उसने वधू के लिये कितने कीमती जेवर बनवाये ? कितने बहुमूल्य कपड़े चढ़ाये ? उपहारों के कितने ढेर लगाये ? गाजे-बाजे, आतिशबाजी आदि की कितनी बड़ी लिस्ट बनायी । भेंट-उपहार में जो मेवा, मिठाई, फर्नीचर, सौगात आदि की इधर से उधर अदला-बदली होती है, उसका कहीं कोई ऐसा उपयोग नहीं होता, जिससे किसी रुकी आवश्यकता की पूर्ति हो सके । वह कबाड़ा जिस-तिस को

बाँट दिया जाता है या फिर जहाँ-तहाँ रद्दी कबाड़े की तरह जगह घेरे पड़ा रहता है । वस्तु उसे कहना चाहिये जो किसी अभाव की पूर्ति करे । जो इस कसौटी पर खरी नहीं उतरी, उस अनावश्यक वस्तु को बर्बादी ही कहना चाहिये । विवाह के समय जो कुछ इधर से उधर आदान-प्रदान होता है, वह प्रायः इसी स्तर का कहा जा सकता है कि शान जताने, शेखी खोरी दिखाने के लिये बर्बादी की राह अपनाई गई ।

चंद अमीरों की बात छोड़ देते हैं, जिनके पास काली कमाई से तिजोरियाँ भरी रहती हैं । शेष जन साधारण की आर्थिक स्थिति किसी भी प्रकार ऐसी नहीं होती कि वे इस बर्बादी के भार को आसानी से सह सकें । उन्हें अपने घर, जेबर, बर्तन आदि को बेचकर यह धूमधाम का सरंजाम जुटाना पड़ता है । कई बार तो बच्चों की शिक्षा, अस्वस्थ होने पर चिकित्सा और खुशहाली बढ़ाने वाली आवश्यक योजनाओं में भी कटौती करनी पड़ती है । कर्ज भी लेना पड़ता है । ब्याज बढ़ती जाती है और वह एक बार का लिया गया कर्ज फिर कदाचित चुक ही नहीं पाता । जिस व्यक्ति की चार लड़कियाँ हों और एक के बाद दूसरी का लगातार विवाह करना है, उसकी कठिनाई को कोई भुक्तभोगी ही समझ सकता है । पहली लड़की का विवाह तो ज्यों-त्यों करके हो भी जाये, पर शेष तीन के लिये वे स्रोत भी समाप्त हो चुके होते हैं, जिन्हें दुहकर किसी प्रकार जुगाड़ बिठाया गया था । ऐसी दशा में उन लड़कियों की कैसी दुर्दशा होती है और अभिभावकों पर क्या बीतती है, इसका अनुमान लगा सकना किसी भी सहृदय या व्यवहार बुद्धि वाले के लिये कठिन नहीं होना चाहिये । जहाँ हर गृहस्थ के सामने यह संकट आड़े खड़े हों, उसके लिये खुशहाली एक प्रकार से दिवा-स्वप्न ही बनी रहती है ।

बदनामी के साथ-साथ घाटा भी :

लड़के वाले बदनाम हैं कि वे दहेज लेने और उपहार, सजधज, बारात सत्कार आदि के लिये दबाब डालते हैं और कन्या पक्ष का खून चूसते हैं । दहेज कम मिलने पर वधू को त्रास देते हैं और कई बार तो आत्महत्या करने वाली परिस्थितियाँ भी उत्पन्न कर देते हैं । इस पैशाचिकता की विचारशील वर्ग में सर्वत्र भर्त्सना

होती है । वर पक्ष एक प्रकार से बदनाम ही हो गया है और उसकी छवि सामने आते ही आक्रोश उत्पन्न होता है ।

इतनी बदनामी समेट कर भी वह आर्थिक या प्रतिष्ठा की दृष्टि से कुछ नफे में रहते हों, ऐसी बात नहीं है । वधू के लिये जेबर चढ़ाना पड़ता है । सोने का भाव इन दिनों आसमान चूमता है । दहेज के अनुरूप जेबर चढ़ाया जाय तो जो नगदी हाथ लगी थी वह जेबर–तीहर में ही खप जाती है । बारात जुटाने और उसे धूमधाम के साथ चढ़ाने का खर्च भी बेटे वाले को ही करना पड़ता है । परिवार, रिश्तेदारी में मिठाई आदि उपहार बाँटने पड़ते हैं । इस सारे खर्च का हिसाब तैयार किया जाय तो प्रतीत होगा कि बेटी वाले से जो पाया था, वह सारे का सारा खर्च हो गया । उल्टे घर से और लगाना पड़ा । आर्थिक दृष्टि से कदाचित ही कोई बेटे वाला नफे में रहता है । जो जेबर, बर्तन, फर्नीचर आदि मिले वे घर की शोभा भले ही बढ़ाते हों, पर उनकी पूँजी के रूप में किसी प्रकार गणना नहीं होती । बेटी वाले को तो इस प्रकार के कूड़े–कबाड़े का भी लाभ नहीं मिलता । वह तो पूरी तरह घाटे ही घाटे में रहता है ।

हर गृहस्थ को अपनी जिन्दगी में औसतन चार विवाह करने पड़ते हैं । उनमें इतनी पूँजी निचुड़ जाती है कि उसके अभाव में ब्याज में पूरी जिंदगी गुजारनी पड़ती है । यदि यह धन बच सका होता तो उस परिवार की खुशहाली ऐसी बनी रहती जैसी कि एक मध्य वृत्ति के गृहस्थ की होनी चाहिये । इस कुचक्र में चक्की के दानों पाटों की तरह दोनों ही पक्ष पिसते और पिसाते रहते हैं । नफे में कोई भी नहीं रहता । बेटी वाले के प्रति सर्व साधारण की सहानुभूति तो भी होती है, पर बेटे वाले को तो जल्लाद, कसाई, डकैत आदि की भी पदवी मिलती है और हर समझदार की उसके व्यवहार पर घृणा बरसती है ।

धूमधाम के सहारे अमीरी दिखाने का जमाना अब बहुत पीछे रह गया । कोई समय था जब राजा, रईश, जमींदार, संभ्रान्त, अमीर–उमराव अपना बड़प्पन जताने की प्रतिस्पर्द्धा में अन्धाधुन्ध अपव्यय किया करते थे और जताया करते थे कि उनके पास इतना पैसा है जिस कारण शान–शौकत में खर्च करना उन्हें जरा भी नहीं खलता,

पर अब तो जमाना तेजी से बदल रहा है । साम्यवादी विचारधारा के अनुसार जो जितना धनवान है, उसे उतना ही बड़ा शोषक गिनना आरम्भ कर दिया गया है । उसके प्रति ईर्ष्या–आक्रोश का दबाव भी बढ़ने लगा है । कर्मचारी तक उनसे बगावत करते हैं । ऐसे वातावरण में जो दो सौ वर्ष पुरानी प्रथा अपनाकर इन दिनों भी उसी प्रकार के धूमधाम अपनाते हैं, अपनी और अपने सम्बन्धी को बर्बाद करते हैं, उन्हें भलीभाँति समझ लेना चाहिये कि इस आधार पर उन्हें अब प्रतिष्ठा तो कोई चाटुकार ही देंगे, पर अपयश इतना बड़ा मिलेगा, जिसे आसानी से धोया न जा सकेगा ।

बर्बादी का निमित्त जो भी बनता है, उसके प्रति मनुष्य के मन में सहज क्षोभ उत्पन्न होता है और शत्रुता बन जाती है । इन दिनों वर और वधू पक्ष के दोनों कुटुम्बों में एक प्रकार से शत्रुता ही बढ़ती और परिपक्व होती रहती है । बाहर से दिखावटी रूप से शिष्टाचार भले ही बरता जाता रहे, पर भीतर ही भीतर सम्बन्धों में ऐसी खाई बन जाती है जो सहज नहीं पटती और चिरकाल तक विरोध बनाये रहती है । यह स्वाभाविक भी है । खुशहाली में सहायता करने वाले ही सच्चे अर्थों में मित्र माने जाते हैं । जो बर्बादी के कारण बनें उनके प्रति सच्चा सद्भाव स्थिर रह सके यह संभव नहीं । इसका कारण आज की खर्चीली शादियाँ ही हैं, जो अपनी चपेट में आने वालों को दरिद्र और बेईमान बनाकर ही रहती हैं ।

मध्यकाल के सामन्तवादी अंधकार युग में सत्ताधारी लोग अपने से दुर्बलों के ऊपर अकारण ही चढ़ दौड़ते थे । लड़ाकू लोगों के गिरोह अपनी फोज के रूप में रखते थे । चढ़ाई में लूट का माल तो बटोरते ही थे, साथ में ऐसा भी होता था कि जिस परिवार में सुन्दर लड़कियाँ होती थीं, उनका अपहरण भी कर लिया जाता था । यह कार्य वे गाजे–बाजे के साथ बन्दूक चलाते, तलवार घुमाते हुए करते थे । इन दिनों के विवाह प्रायः उसी आतंक की याद दिलाते हैं । धूम–धड़ाक्का करती हुई, सज–धजकर ऐंठ अकड़ में चलने वाली बारात उसी जमाने का स्मरण दिलाती है, जिसमें धन और लड़कियाँ लूटने के लिये सामन्ती चढ़ाइयाँ हुआ करती थीं । पता नहीं यह कैसा दो कुटुम्बों के बीच जुड़ने का रिवाज है जिसमें नाक ऊँची रखने के बहम में फँसकर दोनों पक्ष एक प्रकार से

निचोड़ लेने का प्रयत्न करते हैं । बाहर से हितैषी बनने का दिखावा और भीतर से सामने वाले की बर्बादी का षडयंत्र करना, इस छद्म को क्या नाम दिया जाय ? यह सहज समझ में नहीं आता ।

सादगी भरे विवाह : समय की माँग :

विचार किया जाना चाहिये कि यदि यह फूहड़पन से भरी-पूरी नौटंकी न रची जाय, दुल्हा-दुल्हन को बेतुके, अस्वाभाविक और खर्चीले लिबास से न सजाया जाय तो उसके बिना क्या हर्ज होगा ? यह खर्चीली पोशाक नाटक करने वालों की तरह कुछ देर तो कौतूहल बर्धक भी लगती है, पर बाद में उसका कभी कोई उपयोग नहीं होता । उन पर खर्च हुई रकम बक्सों की जगह घेरती और धीरे-धीरे कपड़े खाने वाले कीड़ों के पेट में चली जाती है । समझदारी पूछती है कि सभ्यता की जानकारी रहते यह असभ्यों जैसा कौतुक रचने का क्या प्रयोजन ?

भारतीय संस्कृति के अनुरूप धोती-कुर्त्ता वर पहने और साड़ी-ब्लाउज लड़की के लिये पर्याप्त है । उन वस्त्रों को पीले रंगा जा सकता है ताकि सांस्कृतिक परम्परा का स्मरण उस समय उपस्थित जनों को हो सके और अंग्रेजी लिवास का मोह कम से कम विवाह जैसे यज्ञ कार्यों में से अलग रह सके । विवाह में पालथी मारकर बैठना पड़ता है । पैण्ट जैसी पोशाकें तो कुर्सी मेज पर ही सुविधा-जनक हो सकती हैं, जिनका उपयोग विवाह कृत्य में किये जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

सामन्ती युग चला गया । उस समय की आशंकायें भी अब नहीं हैं, तो फिर प्रथा-प्रचलन ही वैसे क्यों जारी रखे जायें ? विवाह गृहस्थ जीवन का सबसे खर्चीला, सबसे अधिक भाग-दौड़ वाला, सबसे अधिक असुविधाजनक उत्सव है । कुरीतियाँ और रूढ़ियाँ इसी के इर्द-गिर्द छत्ता बनाकर घूमती रहती हैं । इसलिये अन्य सुधारों की तुलना में विवाह परम्परा पर असाधारण रूप से ध्यान दिया जाना चाहिये और उसमें समुचित, सामयिक परिवर्तन किया जाना चाहिये ।

बारात के नाम पर खर्चीली हुल्लड़बाजी बन्द हो :

इस संदर्भ में किया यह जाना चाहिये कि धूमधाम की नौटंकी का कौतूहल सर्वथा समाप्त किया जाय । कुटुम्बी, रिश्तेदारों की उपस्थिति पर्याप्त मानी जाय । उसमें भी संख्या की मर्यादा निभे । दोनों पक्ष के दस-दस प्रमुख व्यक्ति उपस्थित रहें तो पर्याप्त है । बारात तो अधिक लोगों की जानी ही नहीं चाहिये । दस से बीस तक का अनुबन्ध रहे तो पर्याप्त है । भले आदमी जिस प्रकार किसी के यहाँ आतिथ्य के लिये जाते हैं, उसी सादगी का निर्वाह सज्जनता है । गाजे-बाजे, धूम-धड़ाके, आतिशबाजी, वाहनों की सजधज, दूल्हा के बैठने के लिये अतिरिक्त खर्चीले संजाम जुटाना एक प्रकार का फूहड़पन है । इसमें बचकानेपन की मानसिकता टपकती है । विचारशील लोग कभी महत्वपूर्ण गोष्ठियों में सम्मिलित होने जाते हैं, तो वहाँ क्या बारात सजाते हैं । यदि वे ऐसा करें तो हर किसी की दृष्टि में उपहासास्पद बनें । उन्हें कौतुकी या नट-नर्त्तक, अभिनेता, विदूषक जैसा माना जाय । सभ्य लोग कार्यवश जहाँ-तहाँ जाते रहते हैं, पर वे हल्ला बोल, जुलूस, प्रदर्शन, हड़ताल जैसा ध्यानाकर्षण करने वाला माहौल नहीं बनाते । उन्हें अपने स्तर का ध्यान रहता है, तदनुरूप ही आवागमन में भी सादगी बनाये रहते हैं ।

यह सोचना सर्वथा गलत है कि बारात की सजधज को उस क्षेत्र के सभी दर्शक ध्यानपूर्वक देखेंगे और इतना खर्च और शोर-धमाल होते देखकर प्रसन्न होंगे । सच तो यह है कि हर कोई इन दिनों अपने निजी कामों में इतना व्यस्त है कि निजी प्रयोजनों से ही सिर उठाकर दूसरी ओर देखने की फुरसत नहीं रहती । हाट-बाजारों में आये दिन मण्डलियाँ, जुलूस, बारात, विज्ञापन वाले, बाजीगर, मदारी अपने-अपने ढंग के कौतुक करते हुए निकलते रहते हैं । उनके सम्बन्ध में कार्यव्यस्त लोगों की एक ही भावना रहती है कि यह हल्लाबोल स्तर के लोग जितनी जल्दी सामने से टलें, उतना ही बेकार के सिर दर्द से पीछा छूटे ।

फिजूलखर्ची करने वाले कभी भले ही अमीर समझे जाते हों और तब संभव है उन्हें कुछ मान मिलता हो, पर अब तो कोई उन्हें पैसे के नशे में चूर बदहवास के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझता ।

बारात इस प्रकार का एक मूर्खतापूर्ण धमाल है जिसका प्रचलन जितनी जल्दी बन्द किया जाय उतना ही अच्छा । समझा यह भी जाता है कि हमारी घनिष्ठता कितने बड़े लोगों से है, यह जताने के लिये उन्हें बारात में इकट्ठे करके बेटी वाले के दरवाजे पर ले जाया जाता है । इस विभ्रम में फँसे लोग बारात में चलने के लिये तथाकथित बड़े लोगों को बटोरने के लिये दौड़-धूप करते रहते हैं, बार-बार चक्कर लगाते हैं, खुशामदें करते हैं, सवारी के लिये प्रबन्ध करते हैं । इतने पर भी उनका अहसान बना रहता है कि आपकी बारात की शोभा बढ़ाने के लिये हम अपना काम हर्ज करके गये थे । ऐसी मनःस्थिति में उनके अतिरिक्त नखरे रहे तो क्या आश्चर्य ? उनकी आवभगत की अतिरिक्त रूप से व्यवस्था करनी पड़ती है । विवाह कृत्यों को निपटाने के अतिरिक्त इन तथाकथित बड़े आदमियों के नखरे उठाने पर और भी अधिक ध्यान देना पड़ता है । यह सब प्रवंचना और विडम्बना ही है । प्रतिस्पर्द्धा बढ़ाने के नाम पर जहाँ भी ऐसे ढोंग रचे जाते हैं, वहाँ उनका मजाक ही बनता है । प्राचीनकाल के राजा महाराजा छत्र-चँवर लगा कर सजी-धजी सवारी पर निकलते थे । वह समय अब चला गया, फिर भी उसकी लकीर पीटने से क्या लाभ ? कभी छत्र-चँवर ओढ़ कर गद्दीधारी मण्डल भी लोगों का ध्यान आकर्षित करने वाले आडम्बर बनाकर सवारी निकाला करते थे, पर अब तो वे लोग भी समय को समझ गये हैं और उन आडम्बरों को उतार फेंकने में ही अपनी खैर समझते हैं । ऐसी दशा में बारात के नाम पर चलने वाला खर्चीला हुल्लड़ भी जितनी जल्दी समाप्त हो जाय उतना ही यह माना जायेगा कि लोगों ने समझदारी सीखी और समय को पहचाना ।

विवाह घरेलू उत्सव बनें, प्रदर्शन का अखाड़ा नहीं :

खर्चीले उपहारों का प्रदर्शन भी बारात सज्जा का एक अंश है । फर्नीचर, मेवे, मिठाइयाँ, खिलौने, कपड़े, जेवर श्रृंगारिक वस्तुएँ आदि को एक पक्ष से दूसरे पक्ष के यहाँ पहँचाने के लिये खर्चीले प्रदर्शन का प्रबन्ध किया जाता है । इनमें से अधिकांश वस्तुयें ऐसी होती हैं, जो जिसे दी गयी हैं, उसके काम कदाचित ही कभी आती हैं । अर्थशास्त्र का निर्देश है कि वस्तुयें वही खरीदी या ग्रहण की जायें, जो किसी अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति करती

हों । यदि ऐसा नहीं है तो दिया गया या लिया गया सामान एक प्रकार से घर घेरने वाला कचरा ही समझा जायेगा । देखा जाता है कि विवाह–शादियों में इस प्रकार का निरर्थक, किन्तु ढेरों पैसा खर्च कराने वाला कचरा ही इधर से उधर धकेला जाता रहता है । इसी मखौलबाजी में इतनी बड़ी रकम कट जाती है जिसे यदि संभाल कर रखा गया होता, किसी उपयोगी काम में लगाया गया होता तो उससे कुछ काम चलता । अपव्यय जन्य खर्च के कारण अनावश्यक आर्थिक दबाव न बढ़ता ।

विवाह की रस्मों में सम्मिलित आडम्बरों को साहसपूर्वक एक बार पूरी तरह निरस्त किया ही जाना चाहिये । जिनका शौक बहुत चर्राता हो वे वधू के घर आने पर स्वल्पाहार जैसी प्रतीकात्मक व्यवस्था कर सकते हैं । इसी प्रकार लड़का जब विवाह के उपरान्त ससुराल जाय तो एक स्वजन–परिजनों की चाय–पार्टी की जा सकती है । दोनों का काम इतने से ही चलना चाहिये । गरीबों के लिये इसलिये कि उनकी अर्थव्यवस्था इतना ही वजन उठाने योग्य होती है । अमीरों के लिये इसलिये कि उन्हें पैसे के घमण्ड में इतराने वाला मानकर ईर्ष्या, द्वेष की आग को निमंत्रित करके बाद में अनेकों झंझट खड़े करने से बचत होती है । बड़ों की देखा देखी छोटे भी नकल उतारने के लिये इसलिये आतुर होते हैं कि धूमधाम के आधार पर उन्हें भी बड़े लोगों में गिना जाने लगेगा । स्मरण रखने के योग्य बात है कि किसी जमाने में खर्चीली सजधज बड़प्पन की निशानी मानी जाती थी । अब इन कुप्रथाओं को तोड़ने में सम्मान भी है, समझदारी भी है और किफायतसारी भी । पुराने जमाने में सभी सिर पर पगड़ी और पैर में चमड़े का जूता पहनते थे, अब वैसा रिवाज कहीं भी देखने को नहीं मिलता है । समय के साथ बदलना अब आवश्यक हो गया है । जो इसकी अवज्ञा करेंगे और कुरीतियों के लिये आग्रह करेंगे उन्हें प्रतिष्ठा और पैसा दोनों की ही हानि सहनी पड़ेगी । आज के विवाह घरेलू उत्सवों की तरह पूर्ण सादगी के साथ ही होने चाहिये । जेवर, दहेज और धूमधाम वाला प्रदर्शन यह तीनों ही अभिशाप समझकर विदा किये जाने चाहिये ।

विवाह संस्कार का आध्यात्मिक, सामाजिक, वैयक्तिक और पारिवारिक महत्व है । इसका प्रभाव शारीरिक, मानसिक और आर्थिक

क्षेत्रों पर भी पड़ता है और उस अवसर पर उत्पन्न हुई भावनात्मक आस्थाओं का प्रभाव पीढ़ियों तक चलता है । इस संदर्भ में भी भारतीय धर्म कृत्यों में विशेष विधा का समावेश है और उसमें जुड़ा स्थायित्व भी दूरगामी परिणामों से भरा-पूरा है । कन्यादान, पाणिग्रहण, सप्तपदी, परिक्रमा, सुमंगली जैसे कृत्यों का सम्मिलित प्रभाव ऐसा पड़ता है कि दोनों आमतौर से सच्चे मन से एक-दूसरे को अपना लेते हैं और वह सम्बन्ध आजीवन निभता भी चला जाता है । एक-दूसरे से अलग होने की बात तो कदाचित ही कोई सोचता है । कभी व्यवधान पड़ता है तो परिचित क्षेत्र में चर्चा का विषय बन जाता है और आश्चर्य किया जाता है कि जब सात भाँवरें पड़ चुकीं तो अलग होने, उस बन्धन को तोड़ने की बात क्यों सोची गयी ? आमतौर से कभी-कभी ही ऐसा होता है कि पति-पत्नी के बीच कुछ खींचतान चल पड़ने के उपरान्त भी वह तनाव लम्बे समय तक चलता रहे । सुलह-सफाई इस आधार पर हो जाती है कि आखिर तो हम विवाह बन्धन में पचों की, देवताओं की साक्षी में बँधे हैं, उसे छोटे-मोटे कारणों से ही झटक कर तोड़ कैसे दें ?

उत्सव की विकृति की परिणति बाद तक भी :

दाम्पतय जीवन में खर्चीली शादियों की परिणतियों को पति-पत्नी सहज ही भुला नहीं पाते । वधू को यह कसकता ही रहता है कि मेरे विवाह में इतना खर्च कराया गया, जो अभिभावकों की सामर्थ्य के बाहर था । उस कमी के कारण बहिन भाइयों के स्वास्थ्य में, शिक्षा में, भविष्य को उज्ज्वल बनाने में कितनी बड़ी क्षति पहुँची । दम्पत्ति जीवन में यह विष मरते दम तक विद्यमान रहता है और उनके मन उस स्तर तक नहीं मिलने देता जितने तक कि मिलने चाहिये । माना कि वह दबाव ससुराल पक्ष के बड़ों ने डाला हो, पर कर्तव्य तो पति का भी बनता था कि उस अनर्थ को न होने देने में तनकर खड़ा हो करके रोके । भले ही वह बगावत नम्र और शिष्ट स्तर की ही हो, पर उसमें इतना दम तो होना ही चाहिये कि जहाँ पत्नी को जीवन संगिनी के रूप में वरण करने का असाधारण लाभ उठाया जा रहा है, वहाँ इतनी सज्जनता और कृतज्ञता का अस्तित्व बनाये रखा जाय कि पत्नी के परिवार वालों को वह दण्ड और त्रास न देने दिया जाय जो बाहर से

तो न कुछ लगता हो, पर भीतर ही भीतर उस परिवार का सफाया ही करके रख देता है । जिन पतियों में इतना साहस नहीं, उन्हें इतना तो करना ही चाहिये कि अपना विवाह अमीर घरानों में न करके किसी गरीब के घर रिश्ता जोड़ने की स्थिति आने तक अविवाहित बने रहने की घोषणा तो कर ही दें । ऐसी क्या जल्दी पड़ी होनी चाहिये कि अभिभावकों का अनुचित दबाव रहते दुल्हा बनने की उमंग को न दबाया जा सके । वर बनने वाले को इतना असमर्थ तो नहीं ही होना चाहिये कि पत्नी के घर की बर्बादी होते रहने पर भी संकोच की आड़ में मूक दर्शक बने रहने की स्थिति स्वीकार करते रहा जाय ।

कभी अन्त न होने वाला लेन-देन का सिलसिला :

नया रिवाज इन दिनों यह भी चल पड़ा है कि वर स्वयं दहेज माँगने लगे हैं । पिछले दिनों यह मोलभाव अभिभावक लोग ही किया करते थे । लड़का अपना संकोच दिखाने के लिये चुपचाप बैठा रहता था । पर अब तो वे स्वयं स्कूटर, मोटर गाड़ी, विलायत की पढ़ाई आदि न जाने किस-किस वस्तु की अपनी अलग मांगें करने लगे हैं । इस प्रकार की माँग के पीछे या तो विवाह करके कन्या पक्ष पर कोई बड़ा एहसान जताने और बदले में मुआवजा माँगने की भावना हो सकती है या फिर भिखारियों जैसी दीनता-दरिद्रता का हीन भाव हो सकता है कि जो वस्तु वे अपने पुरुषार्थ से नहीं जुटा सकते उसे सम्बन्धियों से पाने की याचना करें । यह दोनों ही स्थितियाँ ऐसी हैं जो वर पक्ष के लिये हर दृष्टि से अशोभनीय हैं ।

यदि लेन-देन की बात का औचित्य आँका जाय तो उसमें लड़की वालों द्वारा दहेज वसूल किये जाने का कुछ औचित्य हो सकता है । उन लोगों ने लड़की को पालपोस कर बड़ा किया । अब वे दूसरे परिवार में रोटी-कपड़े की कीमत पर आजीवन मजदूरी करने, दासी की तरह रहने के लिये दे रहे हैं तो अपने माल का मूल्य वसूल करने के हकदार भी हो सकते हैं । कई जातियों और क्षेत्रों में ऐसा रिवाज भी है कि लड़की देने के बदले भारी रकम लड़के वालों से वसूल की जाती है । पर आश्चर्य तब होता है, जब सुयोग्य लड़की पाने के अतिरिक्त भी उसके यहाँ से दहेज

की मोटी रकम मिलने की आशा की जाती है । इस माँग के पीछे किसी प्रकार का औचित्य नहीं खोजा जा सकता ।

जहाँ दहेज के लिये दबाव डाला गया है वहाँ प्रतिशोध का यह भाव भी उभर सकता है कि लड़की को कीमती जेवर और कीमती कपड़े दिये जायें । धूमधाम वाली बारात का खर्चा वहन किया जाय । जो वसूला गया है उसे बराबर करने के लिये दबाव डाला जाय । कहावत है कि बिल्ली खा नहीं सकती तो दूध को लुढ़का देने का प्रयत्न तो जरूर करती है । जो वसूलने में उस्ताद हैं उन्हें खर्चने में भी मुट्ठी क्यों सिकोड़नी चाहिये ? बर्बादी एक की ही क्यों हो ? प्रतिशोध कहता है कि डकैती का माल सीधे हजम नहीं होना चाहिये । उसका एक अंश वसूलने वालों से भी तो बर्बाद कराया जाना चाहिये ।

लड़कियाँ जन्मते ही परिवार पर भारी पड़ती हैं । लड़का जन्मने पर खुशियाँ मनायी जाती हैं और लड़की होने पर सभी का मुँह लटक जाता है । इसका कारण एक ही है कि लड़की के विवाह में लूटमार होने की तरह का घाटा उठाना पड़ता है और लड़का दहेज ही नहीं, जीवन भर सेवा करने के लिये वधू भी ले आता है । सभी को नफा अच्छा लगता है । लड़की में घाटा पड़ता है इसलिये उसकी उपेक्षा होना स्वाभाविक है । यह बड़ी दयनीय स्थिति है कि एक माँ के पेट से जन्मे बालकों में तो कुछ को कन्या होने के कारण तिरस्कृत रहना पड़े और कुछ पुत्र रूप में दुलार, सुविधा, उत्तराधिकार आदि का लाभ उठायें । यह स्पष्टतः अनीति है, जिसके मूल में वह निमित्त काम करता है जिसमें बेटी वालों को विवाह के समय ही नहीं उसके बाद भी अनेक नेग–जोगों, अलन–चलनों के बहाने जन्म भर लुटते रहना पड़ता है ।

खर्चीली शादियों के कुछ और महत्वपूर्ण कारण :

इस कुप्रचलन के कुछ और कारण भी हैं । लड़की वालों के सोचने का तरीका भी गड़बड़ा गया है । वे मालदारों के यहाँ अपनी बेटी पहुँचाना चाहते हैं, ताकि उसे बैठे–ठाले आराम की जिन्दगी बिताने का अवसर मिलता रहे । यह सोच भी बुरा है । सुयोग्य लड़का यदि गरीब घर का हो तो भी कुछ हर्ज नहीं है ।

लड़की को पढ़ाकर कमाने योग्य बना दिया जाय तो दोनों ही मिलजुलकर छोटे परिवार का निर्वाह भली प्रकार करते रहते हैं । इसमें लड़की की प्रतिभा भी अक्षुण्ण बनी रहती है, उसका स्वावलंबन भी हाथ से नहीं जाने पाता । जबकि अमीर घरों में भले श्रम कम करना पड़ता हो, पर हालत अपाहिजों जैसी हो जाती है । दोनों में चयन करना हो तो अपने स्तर के मध्यवर्ती या गरीब परिवारों में ही विवाह किया जाय तो क्या हर्ज है ? अमीरों के यहाँ अत्यधिक लड़की वाले पहुँचते हैं । इसलिये उनके दिमाग बिगड़ते और दहेज की बोली की माँग बढ़ती रहती है । दोनों पक्ष के लोगों को अपने से अमीर नहीं, गरीब परिवार ही स्वयं के लिये खोजने चाहिये । इसी में सभी का हित है । अमीरी तो सीधे रास्ते नहीं आती । फिर यदि उन्हीं के साथ भिड़ना हो तो इसके लिये भी तैयार रहना चाहिये कि बर्र के छत्ते में हाथ डालने पर हाथ के काटे जाने की ही आशंका रहेगी ।

विवाहों के दिन-दिन मँहगे होते जाने का एक और भी बड़ा कारण है-उपजातियों का सीमा बन्धन । इस प्रतिबन्ध के कारण लोग अपनी छोटी उपजाति में ही सम्बन्ध खोजते हैं । दायरा जितना छोटा होगा । उपयुक्त जोड़ा तलाशने में उतनी ही अधिक कठिनाई बढ़ेगी । योग्य लड़के कम और चाहने वाले अधिक होंगे तो बोली बढ़ेगी ही । इस भ्रमजाल से भी निकलना चाहिये और चयन का दायरा बड़ा करना चाहिये ।

इतना तो बिना किसी विरोध या अड़चन के हो ही सकता है कि एक बिरादरी का दायरा एक रहे । उसमें उपजातियों के बन्धन न चलें । कोई उपजाति अपने को अधिक ऊँचा-नीचा होने का दावा न करे । यों तो समूची मनुष्य जाति एक ही पिता की संतान होने से समान स्तर की गिनी जाने योग्य है, पर यदि प्रचलित रूढ़िवादिता के जमाने में उतने बड़े कदम न उठ सकें तो इतना तो हो ही सकता है कि उपजातियों का भेदभाव न किया जाय । ब्राह्मणों की एक जाति मानी जाय तो उसमें गौड़, कान्यकुब्ज, सरयूपारी, मालवीय, सनाढ्य, औदिच्य, श्रीमाली आदि की उपजातियों के भेदभाव क्यों चलें ? समूचे ब्राह्मण समाज में से किसी भी वंश में सम्बन्ध क्यों न कर लिया जाय । वर्ण तो चार ही थे । जबकि उपजातियों की संख्या अब हजारों में पहुँच

गयी है । इस बिखराव के कारण दायरे छोटे-छोटे हैं और अच्छे जोड़े चुनने में व्यवधान खड़े करते हैं । क्षत्री-क्षत्रियों में, वैश्य-वेश्यों में, कायस्थ-कायस्थों में विवाह करने लगें तो उतने में रूढ़ि परम्परा भी नहीं टूटती और चुनाव के लिये अधिक बड़ा क्षेत्र मिलने के साथ दहेज की माँग भी आसानी से घटती है ।

विवाह संबन्धों में बाधक कुछ भ्रान्त मान्यतायें :

मनचले लड़के सिनेमा में काम करने वाली लड़कियों जैसी वधू ढुँढ़ते हैं और स्वयं देखकर पसंद करने का आग्रह करते हैं । इस प्रकार के लड़कों की पसन्दगी के चक्कर में अनेकों रिश्ते रद्द करने पड़ते हैं । आयु बढ़ती जाती है और लोगों में चर्चा फैलती जाती है । इन बिगड़े बाबू को तो हूर की परी चाहिये । साधारण लोग उन्हें पूछना तक बन्द कर देते हैं । आशंका यह भी तो रहती है कि जो खूबसूरती पर ही लट्टू है, वह सामान्य लड़की के साथ वफादार क्या रह सकेगा ? आगे चलकर कोई गड़बड़ी तो नहीं खड़ी करेगा । जहाँ रूप के आधार पर ही पसन्दगी का मापदण्ड रखा गया है, वहाँ दम्पत्ति-जीवन में वफादारी बनी रहने के सम्बन्ध में यदि सन्देह किया जाता है तो वह उचित ही है । ऐसे रिश्तों से बचा जाय तो ही ठीक है ।

भारत ऊष्ण जलवायु का और मध्यम रूप रंग का देश है । फिर जो लड़के-लड़कियाँ अप्सरायें और गन्धर्व खोजते हैं, उन्हें फिर उन्हीं के लोक में जाकर शादियाँ करनी चाहिये । अफ्रीका के काले लोग अपने ही रंग वालें में रिश्ते करते हैं, फिर हमें ही क्यों इतना बचकाना होना चाहिये कि रंग-रूप को 'प्रधानता दें । यदि यही रिवाज चल पड़ा तो सामान्य रंग-रूप वाले लड़के और लड़कियाँ तो बिना विवाह के ही रह जायेंगे । अपनी माता, बहिन, बुआ आदि को देखा जाय तो वे भी साधारण ही मिलेंगी । यदि आज जैसी दृष्टि उस जमाने में रही होती तो अपने सम्बन्धियों में से अधिकांश को कुँवारा ही रहना पड़ता और शायद इन मनचले लोगों में से अधिकांश को जन्म लेने का सुयोग न मिला होता ।

परिपक्व आयु के परिश्रमशील, सादगी पसन्द, विनम्र, मिलनसार प्रकृति के लड़के-लड़कियों का ही चुनाव किया जाय । उन्हीं के प्रयासों से सद्ग्रहस्थी का सुसंचालन होता है । वे ही परस्पर

वफादार रहते और जीवन की गाड़ी सही मार्ग पर चलाते देखे जाते हैं । शिक्षा प्राप्त करने में लड़की–लड़कों को समान समय लगता है । मानसिक एवं शारीरिक विकास की अवधि भी प्रायः समान है । लड़कियाँ कुछ कम उम्र में बच्चे जन सकती हैं, पर अपरिपक्व उम्र में होने के कारण वे रहते दुर्बल ही हैं । इनसब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए परिपक्वावस्था प्राप्त करने के लिये आयु की प्रतीक्षा तो करनी ही पड़ेगी । इन दिनों लड़की से लड़का बड़ा होने की बात सोची जाती है, पर इसमें कोई ऐसा अनुबन्ध नहीं है कि उसे अपरिहार्य माना जाय । लड़की भी कुछ बड़ी हो तो इसमें आना–कानी करने जैसी कोई बात नहीं है । अब्राहम लिंकन, महात्मा गाँधी, नेपोलियन, टालस्टाय आदि कितने ही महान व्यक्तियों की पत्नियाँ उनकी अपेक्षा आयु में अधिक बड़ी थीं । इस कारण उन्हें ऐसा कुछ नहीं लगा, जिसे अनुचित कहा जाय । इन दिनों जबकि शिक्षा और योग्यता सम्पादन को परिपक्वता को महत्व दिया जा रहा है, तब वधू की आयु वर से कुछ बड़ी है तो उसे भी समय के अनुरूप ही कहा जायेगा ।

धूमधाम वाली, दहेज और जेवर वाली, खर्चीली शादियाँ आज के प्रचलन में सम्मिलित हो गयी हैं । यद्यपि इनके कारण देश का आर्थिक और सामाजिक ढांचा बुरी तरह लड़खड़ाने लगा है । इस तथ्य को हर किसी को समझना चाहिये और उस पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान देना चाहिये । हर गृहस्थ में लड़के और लड़कियाँ दोनों ही होते हैं । यदि लड़के की बारी आने पर शेर बना जायगा, तो जब लड़की की शादी का अवसर आयेगा, सम्भव है उस समय किसी सवा–सेर से पाला पड़े और जो कमाया था, उन्हें ब्याज समेत उस अवसर पर वापिस करना पड़े । लड़के की बारी में जो बड़प्पन का रौब–दाव गाँठते हैं, उन्हें जब लड़की वाला बनना पड़े तो उस बार बकरी बनने और नाक रगड़ने के लिये भी तैयार रहना चाहिय । इस बार–बार के मुखौटे बदलने से बात बनती नहीं । अच्छा यही है कि सज्जनता अपनायी जाय, जो अपने लिये ही नहीं अन्यान्य के लिये भी सुविधाजनक हो । उसका अनुसरण करते समय अंधे को भी यह प्रतीत हो कि मनुष्य में समझदारी और सज्जनता मौजूद है । हित–अनहित समझने की, सभ्य परम्परा अपनाने की दूरदर्शिता मौजूद है ।

जिस समुदाय में वर पक्ष से पैसा वसूल करने की रिवाज है वहाँ

बेटी वालों को सुधारवाद की पहल करनी चाहिये । दोनों पक्ष विचारशील हों तब तो खर्चीली शादियों का उन्मूलन अत्यन्त प्रसन्नता पूर्वक सम्पन्न हो जाता है । किन्त एक पक्ष भी यदि सुधरा हुआ हो तो दूसरे पक्ष को किसी न किसी सीमा तक नरम बनना ही पड़ेगा । जैसा अवसर हो कदम उठाया जाय, पर ध्यान रखा जाय कि इन दिनों जो उपक्रम चल रहा है वह हर दृष्टि से घातक है, उसमें आमूल–चूल परिवर्तन किये बिना और कोई चारा है ही नहीं ।

परिवर्तन की दिशा में गतिशील प्रयास :

अब न्याय की माँग सर्वत्र तेज होती जा रही है । अन्याय का विरोध हर क्षेत्र में उभर रहा है । यह सामाजिक क्षेत्र के विवाह प्रकरण में भी उभरे बिना नहीं रह सकता । नारी जागरण का, नारी उत्कर्ष का माहौल जैसे–जैसे बनता जायेगा वैसे–वैसे दहेज के विरुद्ध आवाज बुलन्द होगी और धूमधाम वाली शादियों को हर दृष्टि से हेय ठहराया जायेगा । कानून में तो बाल–विवाह की तरह दहेज विरोधी एक्ट भी बना हुआ है जिसके अनुसार इस दुष्कर्म में भागीदारों को हथकड़ी पहनाकर जेल पहुँचाया जा सकता है, पर मान्यता केवल कानून ने दी है, व्यवहार में वह घमाल अभी भी पहले की तरह ही नहीं चलता वरन् सच तो यह है कि उसकी लागत और भी अधिक बढ़ गयी है । एक ओर मँहगाई के कारण लोगों की आमदनी में कमी होना, दूसरी ओर विवाह सम्बन्धित हर वस्तु का मँहगा होना, इसे दुहरी मार पड़ना ही कहा जा सकता है । यह अपने समाज की अर्थव्यवस्था डाँवाडोल होने का, कंगाली कर्जदारी का बहुत बड़ा कारण है ।

यदि खर्चीली शादियाँ बन्द हो सकें तो उस बचत से हर किसी की खुशहाली बढ़ेगी और दरिद्रता से पीछा छूटेगा । अतिरिक्त उपार्जन के कोई नये साधन भले ही न जुट सकें । इसके विपरीत आजीविका बढ़ाने के एक ओर तो नये आधार खड़े किये जाते हैं, पर दूसरी ओर विवाह–शादियों में खर्च यों ही बना रहे तो जो कुछ अतिरिक्त कमाई हुई है, वह सभी उसी खाई में गिरकर नष्ट होती रहेगी । खुशहाली बढ़ने का सुयोग कभी आ ही नहीं पायेगा । अन्य समाज इस अभिशाप से बचे होने के कारण मध्यवर्ती आजीविका में ही बजट बनाकर काम चलाते और जिन्दगी गुजार

लेते हैं । जब कि जिन पर खर्चीली शादियों का उन्माद चढ़ा है वे ईमानदारी, बेईमानी की काली-सफेद कमाई इसी भाड़ में झोंकते और अन्ततः गरीब के गरीब बने रहते हैं ।

सुधार का शुभारंभ कहीं से तो होना ही है । फिर उसे अपने से आरम्भ करने का श्रेय क्यों न लिया जाय । सन्मार्ग पर पहला कदम बढ़ाने वाले सम्मान पाते, साहसी कहलाते और यशस्वी के रूप में चर्चा का विषय बनते हैं । अच्छा हो कि विचारशील वर्ग का प्रत्येक सदस्य अपने लड़कों के बारे में तो यह नीति सुनिश्चित रीति से अपनाये कि बिना खर्च की, बिना दहेज की, बिना धूम-धाम की शादी सम्पन्न की जाय । लड़की का समय आने पर कड़ाई में थोड़ी ढील भी दी जा सकती है । पर लड़के के समय में तो पहल अपने हाथ होती है । इसलिये उस समय तो ऐसे आदर्श का परिपूर्ण पालन करना ही चाहिये, जो दूसरों के लिये मार्गदर्शक बने । दोनों पक्षों में समान समझदारी हो तो कहना ही क्या ? वह सोने में सुगन्ध है । यदि समान सुयोग बन पड़ता दिखाई न पड़े तो जब अपनी स्थिति लड़के वाले की हो, तब तो आदर्शों पर अड़ ही जाना चाहिये । ऐसी स्थिति में लड़की वालों को सुधारवादी होना सहज स्वीकार होगा, क्योंकि इसमें उन्हें अपव्यय से, अनावश्यक भाग-दौड़ से छुटकारा ही मिलता है ।

इस संदर्भ में सुधारवादी कई प्रयोग किये जा रहे हैं । उनमें से एक यह भी है कि एक नियत तिथि पर सामूहिक विवाह किये जायें । उस क्षेत्र में निश्चित हुई शादियाँ एक ही तिथि को, एक ही स्थान पर सम्पन्न हों । उस सामूहिकता का ऐसा स्वरूप बन जाता है कि प्रदर्शन में कमी नहीं रहती । अच्छी-खासी धूमधाम हो जाती है । जोड़ों के जुलूस निकलते हैं और उन्हें स्थान-स्थान पर स्वागत-आशीर्वाद के पुष्प-उपहार मिलते हैं । तो वह उमंग भी पूरी हो जाती है, जिसमें दिखावा करने और दूसरों का ध्यान आकर्षित करने के बड़प्पन की ललक रहती है । ऐसे आयोजन प्रायः गायत्री प्रज्ञापीठों में गायत्री यज्ञ के अवसरों पर होते रहते हैं । उनमें सामूहिक विवाह के कार्यक्रम भी सम्मिलित रहें तो निजी झंझट अपनाने की तुलना में वह सामूहिक आयोजन अधिक सरल, सस्ता, सुविधाजनक एवं उत्साहवर्धक रहता है ।

शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार में इस प्रकार के आयोजनों की व्यवस्था सदा रहती है । जिन लोगों के सम्बन्धी, पड़ोसी, कुटुम्बी हैरान करते हैं, धूमधाम के लिये उकसाते हैं और न करने पर निन्दा–नाराजी प्रकट करते हैं । वहाँ यही सुविधाजनक रहता है कि दोनों पक्षों के प्रायः दस–दस व्यक्ति मिलकर हरिद्वार पहुँचे, वहाँ के दिव्य वातावरण में शास्त्रोक्त विधि से विवाह कार्य सम्पन्न करें । समीपवर्ती तीर्थ दर्शन का लाभ लें और बिना किसी आन्तरिक तैयारी किये, प्रस्तुत साधनों के सहारे उस कृत्य को पूरा करके घर वापस लौट जायें । घर लौटने पर कुटुम्बी सम्बन्धियों को छोटी–मोटी दावत देनी हो तो उसे स्थिति के अनुरूप किया जा सकता है । शान्तिकुञ्ज में विवाह कार्य में, उपायोग में आने वाली सभी वस्तुयें तैयार मिलती हैं । ठहरने तथा भोजन आदि का समुचित प्रबन्ध है । समय–समय पर यहाँ प्रगतिशील जातीय सम्मेलन भी होते हैं, जिनमें दोनों पक्षों को मिल बैठने तथा उपयुक्त जोड़ों के चयन में सुविधा रहती है । साथ ही पारिवारिक परिचय भी बढ़ता है । इसके अतिरिक्त प्रत्येक माह की पूर्णिमा एवं पर्व विशेषों पर हर वर्ष सालभर यहाँ की नौ–कुण्डीय यज्ञशाला में सादगी युक्त आदर्श विवाह सतत् सम्पन्न होते रहते हैं ।

संतानोत्पादन सम्बन्धी महती दायित्त्व :

स्मरण रखा जाय कि मात्र यौनाचार के लिये ही विवाह बन्धन नहीं बाँधा जाता । इस छोटे प्रयोजन के लिये अधिकांश सुविधाओं और सम्भावनाओं का उत्सर्ग कर देना कदाचित कोई भी बुद्धिमान स्वीकार न करता । इन्द्रियों की अपनी–अपनी ललक–लिप्सा उभरती रहती है और जिस–तिस प्रकार एकाकी या दूसरों के सहयोग से पूरा कर लेते हैं । कृमि–कीटक, पशु–पक्षी इस प्रकार के क्रीड़ा–कौतुक समय–समय पर करते रहते हैं, पर कुछ अपवादों को छोड़कर कोई वैसा गृहस्थ नहीं बसाता जैसा कि मनुष्य के विवाह श्रृंखला में बँधने के साथ ही सँजोना और निभाना पड़ता है ।

दोनों पक्ष के पास इसके उपरान्त स्वतंत्रता नाम मात्र की रह जाती है । दोनों को एक–दूसरे के अनुशासन में चलना पड़ता है, साथ ही इतना अधिक योगदान देना पड़ता है कि उसकी तुलना में यौनाचार का उल्लास राई–रत्ती जितना ही गिना जा सकता है । स्त्रियों को तो

सन्तानोत्पादन और शिशुओं के भरण-पोषण में प्रायः अधिकांश समय पूरी तरह खपा देना पड़ता है । पुरुष के परिश्रम और बुद्धि कौशल के द्वारा जो उपलब्धियाँ हस्तगत होती हैं, उनका वे निजी प्रयोग में तो नगण्य ही प्रयोग कर पाते हैं, शेष तो उन्हें स्त्री-बच्चों के लिये, परिजनों के लिये ही उत्सर्ग करना पड़ता है । मोटी दृष्टि से हिसाब लगाने पर दोनों ही पक्ष इसी प्रयोजन के लिये उस सारी क्षमता को खपाते रहते हैं जिसे यदि मात्र अपनी सुविधा या प्रगति के लिये लगाया गया होता तो वह बहुत कुछ ऐसा पाया जा सकता है, जिसकी गणना महत्वपूर्ण उपलब्धियों में होती है । इतने पर भी प्रचलन ऐसा है कि नितान्त अपंगों, असमर्थों को छोड़कर प्रायः सभी विवाह करते हैं । इसीलिये विद्वान कहते हैं कि पुरुषों की यह विशेष जिम्मेदारी है कि वे तीस वर्ष की आयु तक पहुँचने के उपरान्त ही पिता बनने की बात सोचें । इस बीच के दाम्पत्य जीवन में पारस्परिक स्नेह, सौजन्य, सहयोग की अभिवृद्धि भर करें । पत्नी को अधिकाधिक स्नेह-सहकार का लाभ देकर सुयोग्य बनायें । यही पति का वास्तविक अनुदान है, जिसे जीवन भर सराहा और याद रखा जा सकता है । विवाह के उपरान्त पत्नी को कम से कम पाँच-सात वर्ष तो ऐसे मिलने ही चाहिये जिसमें वह अपनी क्षमता बढ़ा सके । ससुराल वालों के साथ तालमेल बिठा सके । दाम्पत्य जीवन के जुड़े हुए अनेकों कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों को समझ सके । दोनों ही इस बीच हिलमिल कर एक हो सकेंगे । भावी जीवन की रूपरेखा स्पष्ट करने और योजना बनाने के लिये आवश्यक विचार विनिमय करने का अवसर प्राप्त कर सके । पौधा बढ़ने और फल देने योग्य बनने में कई वर्ष लग जाते हैं । पितृ गृह या ससुराल में इतना समय मिलना ही चाहिये कि व्यक्तित्व को इतना विकसित होने का अवसर मिल सके कि वह ससुराल के परिवार में, दाम्पत्य जीवन की आड़ी-टेढ़ी घाटी में अपना-तालमेल बिठा सके । गर्भधारण की बात इसके पीछे ही सोची जानी चाहिये ।

गर्भधारण करती तो बारह-चौदह वर्ष की बच्चियाँ भी देखी जा सकती हैं, पर यह उनके शरीर के साथ अत्याचार है । अठारह वर्ष से कम की आयु में कोई भी लड़की गर्भ धारण करके स्वस्थ सुविकसित संतान को जन्म नहीं दे सकती, पर यह अठारह वर्ष न्यूनतम सीमा है । परिपक्वता के लिये पच्चीस वर्ष तक ठहरना आवश्यक है । फल

तो कम आयु के पेड़ पर भी आते देखे गये हैं, पर माली उन्हें रोकते हैं अन्यथा पेड़ की अभिवृद्धि रुक जाती है और बाद में उस पर छोटे, कमजोर और त्रुटिपूर्ण फल ही आते रहते हैं। पेड़ जब तक हर दृष्टि से मजबूत न हो जाय तब तक उस पर फल न आने पावें इस तथ्य को सभी विचारशील माली ध्यान में रखते हैं। यही बात मानवी प्रजनन के सम्बन्ध में ध्यान में रखी जानी चाहिये। इस संदर्भ में पतियों की अधिक जिम्मेदारी है। इसलिये उन्हीं को आवश्यक सावधानी बरतनी चाहिये और पत्नी को कच्ची स्थिति में ही निचोड़कर नहीं रख देना चाहिये।

नारी अधिक महत्वपूर्ण काम तभी तक कर सकती है जब तक कि उस पर बच्चों की जिम्मेदारी नहीं लदती। बाहर वालों को शिशु पालन के पीछे कोई दबाव या व्यस्तता अनुभव न हो, परन्तु भुक्तभोगी को लगता है कि वह एक पूरे समय अतीव झंझट भरा व्यस्त और जिम्मेदारियों से लदा काम है। गर्भकाल में जननी की स्थिति लगभग आधे बीमार जैसी रहती है। शरीर की गाड़ी धकेलना तक मुश्किल पड़ता है। आये दिन मितली, सिरदर्द, पेटदर्द, अपच, अनिद्रा आदि रोग चढ़े रहते हैं। प्रसवकाल ऐसा है जिसे एक प्राकर से नया जन्म मिलने जैसा माना जाता है। प्रसवकाल में बड़ी संख्या में स्त्रियों के प्राण चले जाते हैं। किसी बहुत बड़े आपरेशन से कम पीड़ा या रक्तस्राव नहीं होता। जन्म के बाद बच्चे की सर्दी-गर्मी, भूख, सफाई, हारी-बीमारी, रोना जैसे अनेकों काम ऐसे रहते हैं जिन्हें यदि ईमानदारी और सावधानी से किया जाय तो एक महिला का पूरा दिन एक बच्चे के लिये ही लग जाता है, पर जब वह सिलसिला लगातार चल पड़े, एक-एक, दो-दो वर्ष बाद बच्चे होने लगें और वे भी कई-कई हो जायें तो समझना चाहिये कि अपना शरीर संभालना ही उसके लिये कठिन पड़ेगा। इस पर भी घर की रसोई बनाने, सफाई करने, कपड़े धोने, बर्तन साफ करने, सामान को संभालने, अतिथि सत्कार जैसे काम जुड़े रहें तो समझना चाहिये कि वह उतना काम करती है जिसे कई मिलकर भी मुश्किल से कर सकते हैं। बाह्य व्यवस्था की भरमार रहने पर यह और भी कठिन पड़ता है कि बच्चे को सुसंस्कारी बनाने से लेकर घर संभालने और परिवार को विशेषतया पति को प्रसन्न रखने की जिम्मेदारी ठीक तरह वहन की जा सके।

लोग न जाने क्यों संतान के लिये इतने लालायित रहते हैं कि उसकी प्राप्ति को सर्वश्रेष्ठ सौभाग्य मानते हैं । इस मान्यता वालों को स्वयं बच्चे पैदा करने पड़ें या जननी पर जो मुसीबत पड़ती है उसका अनुमान लगा सकें तो उन्हें अपना चिन्तन बदलना पड़े और सोचना पड़े कि दाम्पत्य जीवन को सही और सुखी रखना है तो बच्चों का कम से कम भार पत्नी पर लादा जाय । उसके पूर्ण वयस्क या समर्थ हो जाने तक तो इस संदर्भ में धैर्य रखा ही जाय, अन्यथा एक ओर तो वह काम से लदती जायेगी और उसी अनुपात से अपनी निज की क्षमता को तिलाञ्जलि देकर खोखली बनकर रह जायेगी । पत्नी के स्वास्थ्य की बर्बादी, पिता के ऊपर खर्च का दबाव बढ़ना, परिवार के सदस्यों की सुविधा में कटौती, बच्चों का समुचित विकास होने योग्य साधनों के अभाव में उनका पिछड़ेपन से जकड़ जाना जैसी अनेकों हानियाँ हैं । जिस हेतु लोग लालायित रहते और खुशियाँ मनाते हैं, वस्तुतः उसमें हर दृष्टि से हानि ही हानि है । देश के लिये बढ़ती हुई जनसंख्या अभिशाप बन कर रह गयी है । विकास के लिये हर क्षेत्र में निश्चित कर लेना चाहिये कि दो शरीर मिल कर एक मन विनिर्मित करेंगे और प्रगति पथ पर अग्रसर करने में एक-दूसरे की पूरी-पूरी सहायता करेंगे । यह भर समझ लेना तभी संभव हो सकता है जब प्रजनन के अनावश्यक भार से दाम्पत्य जीवन को कुचल-मसल न दिया जाय । मनुष्य की शक्ति सीमित है उसे चाहे भावी प्रगति में, वर्तमान स्नेह-सहयोग में लगा लिया जाय या फिर अनावश्यक बच्चे पैदा करके उस समस्त संभावना को पूरी तरह समाप्त कर दिया जाय ।

परिवार संस्था एक छोटा प्रजातंत्र, जो अनिवार्य है :

प्रश्न यही उठता है कि जिसमें मोटी दृष्टि से मात्र घाटा ही घाटा है, उस व्यवसाय में प्रवृत्त होने के लिये सर्वसाधारण में उत्साह क्यों पाया जाता है ? और जब तक वह सुयोग नहीं बन जाता तब तक किशोरावस्था के आरम्भ से ही क्यों प्रतीक्षा आरंभ हो जाती है ? जानबूझ कर नर-नारी अपनी क्षमताओं को इस छोटे दायरे में खपाते रहने में क्यों संतोष मानते हैं ?

यहाँ प्रकृति की उस अदृश्य परम्परा को ध्यान में रखना होगा, जिसके अनुसार उसने अन्य सभी प्राणियों से मनुष्य को

अतिरिक्त विशेषताओं से सम्पन्न बनाया है और साथ ही यह नियोजन भी किया है कि वह अधिक सुयोग्य, संरक्षण, प्रशिक्षण, सहयोग एवं संवर्धन के आधार प्राप्त कर करता हुआ अपनी विशिष्टता को न केवल बनाये रहे, वरन् बढ़ाता भी चला जाय । यह सुविधा शैशव की असहाय अवस्था में उसे तभी मिल सकती है, जब परिवार परिकर के बीच उसका निर्वाह और विकास सुव्यवस्थित रूप में चल सके । यह व्यवस्था ठीक तरह बन सके इसके लिये परिवार-परिकर का आश्रय चाहिये । एक नये परिवार की सृष्टि विवाह के आधार पर भी संभव होती है । उस बन्धन में कामुकता की उमंग का यत्किंचित समाधान तो है, पर साथ ही यह भी जुड़ा हुआ है कि पाणिग्रहण के कुछ ही समय उपरान्त सन्तानोत्पादन का सिलसिला चल पड़ता है और फिर उसे संभालने, सजाने और विकसित करने के लिये जन्म भर पति-पत्नी दोनों को ही खपना पड़ता है । वस्तुस्थिति को देखते हुए मानवी पारिवारिक संरचना के पीछे प्रमुख प्रयोजन यही प्रतीत होता है कि भावी पीढ़ियों को अधिक परिष्कृत बनाने के लिये पति-पत्नी प्रवृत्त हों । चूँकि वह कार्य असाधारण जिम्मेदारियों और जोखिमों से भरा है इसलिये उसे सहज स्वीकारने में तत्पर न होने की आनाकानी आड़े आ सकती है । इसलिये प्रकृति ने दूसरा आश्चर्य भरा सरंजाम जुटाया है-वह है काम-कौतुक, नर-नारी के बीच पाया जाने वाला आकर्षण-यौनाचार के क्षणों में मिलने वाला रसास्वादन । चूहे को पिंजड़े में फँसाने के लिये उसमें घी की सुगंध वाली रोटी टांगी जाती है । ठीक उसी प्रकार कामुकता का आकर्षण इसलिये बनाया गया है कि उस आधार पर संतान पालन में भारी-भरकम दायित्व को वहन करने के लिये मनुष्य स्वेच्छापूर्वक सहमत किया जाय ।

इसे मानवी विकास-विस्तार की प्रक्रिया भी कह सकते हैं । पारिवारिक गठन ऐसा है जिसे एक सहकारी संस्था कह सकते हैं । उसमें मात्र पति-पत्नी और बच्चे ही का एक रिश्ता नियत नहीं रहता, वरन् भाई-बहिन, चाचा-चाची, ताऊ-ताई, बाबा-दादी आदि कई स्तरों के सदस्य साथ-साथ रहते और वे मिलजुलकर अपने-अपने योगदान से परिवार की सुव्यवस्था बनाते हैं । नयी पीढ़ी को अपने-अपने स्तर का सहयोग प्रदान करते हैं । इतना ही नहीं

उस समूचे परिवार की पारस्परिक संदर्भ संहिता भी है, जिसके अनुशासन में बँधकर वे उस समूचे संगठन की सुविधा एवं विकास प्रक्रिया का तारतम्य बिठाते हैं । यह समूची श्रृंखला विवाह प्रकरण के आधार पर ही बनती है । परिवार की उपयोगिता जीवन यापन की सुविधा व्यवस्था तक ही सीमित नहीं है, वरन् सबसे बड़ा लाभ यह है कि उस संगठन के सभी सदस्य अपने-अपने अनुरूप विकास-विस्तार के लिये आवश्यक साधन और सुयोग प्राप्त करते हैं । बड़ों के द्वारा छोटों का ही सहकार बनता है ऐसी बात नहीं है, वरन् छोटे भी बड़ों के लिये भावनात्मक पोषण प्रदान करते हैं और उन्हें भी नये सिरे से वह सब सिखाते हैं जो अगले दिनों उन्हें सुयोग्य बना सके ।

परिवार को नर-रत्नों की खदान कहा गया है । यह उक्ति नवजातों के विकास प्रकरण पर तो लागू होती ही है, साथ ही यह तथ्य भी जुड़ा हुआ है कि उस अनुबन्ध में बँधकर रहने वाले सभी सदस्य एक-दूसरे की योग्यता, क्षमता एवं भावना का लाभ उठाकर अधिक संयमशीलता, सज्जनता एवं उदारता का अभ्यास भी करते हैं । इस प्रकार यह सामूहिक सामुदायिक प्रगति का केन्द्र बनता है । विकसित परिवार ही समुन्नत राष्ट्र की बहुमूल्य कड़ी माने जाते हैं, एक सशक्त प्रजातंत्र की नींव रखते हैं ।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है । सामूहिकताजन्य सहकार ही उसकी अद्यावधि प्रगति का सर्वप्रमुख कारण है । इस विशिष्टता का क्रमबद्ध और सुनियोजित अभ्यास संयुक्त परिवार में ही बन पड़ता है । इसके लिये सभी सदस्यों को उनके कर्तव्य, दायित्व एवं अधिकार भी समझने-समझाये जाने चाहिये । किसी से अतिरेक होने पर परिवार लड़खड़ाने और बिखरने लगते हैं । जिस कारण सभी सदस्य घाटे में रहते हैं । देखा जाता है कि स्वतंत्र कमाई करने योग्य होने पर नये पति-पत्नी अलग रहने और स्वतंत्रतापूर्वक अपने उपार्जन को मौज-मस्ती के साथ खर्च करने के लिये आतुर हो उठते हैं । तात्कालिक सुविधा तो उन्हें मिल भी जाती है, पर एक ऐसी परम्परा का आरम्भ होता है, जिसका आगे चलकर उन्हीं के साथ एक बुरा पेचीदा उदाहरण प्रस्तुत होता है । जिस प्रकार विवाह होते ही अलग रहने की इच्छा जिसके मन में उठी, उसी का

अनुकरण उनकी संतानें भी वयस्क होने पर करने लगेंगी । उदाहरण अनुकरणीय बनता जायेगा । कमाऊ लोग मौज करेंगे और जो अपनी कमाई पहले ही लालन-पालन में खर्च कर बैठे हैं वे निराश एवं अभावग्रस्त बनते जायेंगे । पारस्परिक सहयोग के सहारे जो बहुमुखी सहायता, प्रसन्नता और उपलब्धि हस्तगत होनी चाहिये, उससे उस परिवार के सभी सदस्यों को न्यूनाधिक मात्रा में वंचित रहना पड़ेगा । परिवार गठन प्रगति और व्यवस्था का समन्वय है । इसी आधार पर मनुष्य जाति अब तक इतनी प्रगति कर सकी है और भविष्य में उसे आगे बढ़ाने में समर्थ हो सकती है ।

परिवार एक छोटा राष्ट्र है । राष्ट्र व्यवस्था में अनेक सुयोग्य कर्मी अपना-अपना योगदान शक्ति भर प्रस्तुत करते हैं और बदले में आवश्यकता के अनुरूप पाते हैं । मिल-जुलकर सभी को अपने स्तर का काम करना और दायित्व निबाहना पड़ता है । इसी बड़ी प्रक्रिया का छोटे रू प में अभ्यास करने के लिये परिवार ही समुचित स्थान है । समुन्नत राष्ट्र की-विश्व की कल्पना "वसुधैव कुटुम्बकम्" का सिद्धान्त चरितार्थ करते हुए ही की जा सकती है । शान्ति, प्रगति, व्यवस्था, समृद्धि एवं संस्कृति का विस्तार वैसे ही व्यापक सहयोग के आधार पर विकसित हो सकता है, जैसा कि परिवारों के बीच स्वाभाविक रूप से वातावरण पाया जाता है । पारिवारिक सुव्यवस्था को राष्ट्र या समाज की सर्वतोमुखी प्रगति का आधार माना जाय तो इसमें तनिक भी अत्युक्ति न होगी । यह मनुष्य समाज की महती आवश्यकता है । इसकी पूर्ति के लिये परिवार एक छोटी प्रयोगशाला की भूमिका सम्पन्न करें तो उचित ही होगा । विश्व परिवार और व्यक्ति परिवार के बीच समस्वरता का तारतम्य बिठाने के लिये एक ही आचार संहिता, एक ही भावना काम करती है, एक ही स्तर का आचरण अपनाना पड़ता है । इस शिक्षा में साहित्य, सत्संग, परामर्श, दृश्य अनुभव आदि के कितने ही आधार हो सकते हैं, पर उसका व्यावहारिक प्रयोग तो परिवार संस्था के अन्तर्गत ही उपलब्ध हो सकता है ।

पारिवारिकता अपनाकर मनुष्य अधिक सभ्य, सुसंस्कृत, समुन्नत बने, इसके लिये विवाह संस्कार का प्रचलन दूरदर्शी मूर्धन्यों ने किया है । प्रकृति की इच्छा भी यही है । इसके पीछे मानवी

विकास के तथ्य जुड़े हुए देखे जा सकते हैं । नीतिशास्त्र, आचार विज्ञान, नागरिक, समाज, सहयोग, उपार्जन, वितरण और भी महत्वपूर्ण पद्धतियों को किस प्रकार कार्यान्वित किया जाय । इसका प्रत्यक्ष अनुमान किसी सभ्य परिवार की रीति-नीति को देखते हुए सहज सरलतापूर्वक लगाया जा सकता है । इन सूत्र संकेतों को जितना अधिक परिष्कृत, जितना अधिक प्रखर, अनुशासित बनाया जा सके, उतना ही प्रगति और सुख-शान्ति का पथ प्रशस्त होता है ।

विकृतियाँ हटें, कुप्रथायें मिटें :

विवाह चाहे लड़के का हो, चाहे लड़की का न्यूनाधिक मात्रा में समान रूप से खर्च कराते हैं । इसका परिणाम परिवार पर गरीबी छाई रहने के रूप में तो होता ही है, देश की आर्थिक स्थिति पर भी उसका कम प्रभाव नहीं पड़ता । उत्पादन के लिये, आजीविका अभिवर्धन के लिये अनेकों योजनायें बनती और चेष्टायें होती रहती हैं, फिर भी आर्थिक स्थिति सुधरने का सुयोग नहीं बन पाता । गरीबी जहाँ की तहाँ रहती है । कारण कि जो कमाया जाता है वह सारे का सारा विवाह शादियों की गहरी खाई में गिरकर अपना प्रभाव समाप्त करता रहता है । आमदनी बढ़ने पर भी कुछ जमा पूँजी न जुट पाने और उन्नतिजन्य किसी प्रकार का अवसर न मिल पाने का सबसे बड़ा कारण एक ही है "खर्चीली शादियाँ" जो किसी के पास कुछ बचने ही नहीं देतीं ।

विवाह की तरह ही और भी कितने ही ऐसे रश्म-रिवाज अपने समाज में प्रचलित हैं, जिनके कारण अनावश्यक खर्च अंधाधुन्ध मात्रा में होता रहता है । मृतक भोज ऐसी ही भयावह कुरीतियों में से एक है । घर का एक व्यक्ति उठ गया, इससे परिवार को हानि ही हानि हुई । शोक संताप ही छाया । इस पर भी लम्बे-चौड़े प्रीतिभोजों की मजबूरी सिर पर लद ले तो समझना चाहिये के दुहरी मार पड़ने की बात चरितार्थ हुई । इन कुप्रचलनों के रहते सर्वसाधारण की आर्थिक स्थिति सुधरने की बात कहाँ से बन पायेगी ?

आय बढ़े तो प्रगति के लिये आवश्यक सुविधा साधन उपलब्ध हों । यह मान्यता जन-जन की है । शासक वर्ग, सामाजिक कार्यकर्त्ता और प्रजाजन इसी प्रकार सोचते हैं और जिससे जो बन

पड़ता है, वह उसके लिये यथासम्भव प्रयत्न भी करता है, पर यह तथ्य न जाने क्यों भुला दिया जाता है कि अपव्ययों में कटौती करके भी उतना बचाया जा सकता है जितना कि वर्तमान परिस्थितियों में औसतन आजीविका वृद्धि की आशा की जाती है । उदाहरण के लिये नशेबाजी और फैशन परस्ती को लिया जा सकता है । इन दोनों का प्रवेश न केवल अज्ञानी अशिक्षितों में हुआ है, वरन् सम्पन्न सुशिक्षितों ने भी उन्हें अपने शरीर और परिकर में उत्साहवर्धक प्रवेश दिया है । इसी पंक्ति में एक और दैत्य आ विराजता है–वह है खर्चीली शादियों का धमाका ।

हिसाब लगाकर देखा जाय तो प्रतीत होगा कि इस पर हर गरीब–अमीर को अपनी हैसियत के अनुसार अपव्यय करना पड़ता है । खुशहाली के जो अंकुर उगाये और बढ़ाये जा सकते हैं, वे बढ़ने से पूर्व ही जल–भुन कर भस्म हो जाते हैं । देश भर में इस कुप्रचलन की बलिवेदी पर इतनी राशि चढ़ जाती है जिसे बचाकर कुटीर उद्योग जैसे उपयोगी माध्यमों का जाल सर्वत्र फैलाया जा सकता है । अपना समुदाय अपने ही बलबूते पर जापान जैसी सुसम्पन्नता उपलब्ध कर सकने में समर्थ हो सकता है । पूँजी और श्रम यही तो आर्थिक प्रगति के दो आधार हैं । श्रम का अपहरण करने में आलस्य और विलास अग्रणी हैं । पूँजी को बर्बाद करने में खर्चीली शादियों को प्रमुख माना जा सकता है । हर परिवार को अपनी खुशहाली का समापन इन्हीं कुप्रचलनों पर करना पड़ता है । फिर वह आशा करना कैसे बन पड़े ? जिससे आर्थिक प्रगति का सुयोग हस्तगत हो, आवश्यक सुविधा–साधन जुटाने का सुयोग बन पड़े ।

निस्सदेह खर्चीली शादियों जैसी कुरीतियाँ व्यक्ति, परिवार और समाज को आर्थिक दृष्टि से दरिद्र और व्यक्तित्व की दृष्टि से अनगढ़ बनाती हैं । इन व्यवधानों के रहते प्रगति के लिये आवश्यक सरंजाम कैसे जुटे ? यह प्रश्न ऐसा है जिसका हल समय रहते किया जाना चाहिये ।

अपराधों की श्रेणी में उन कृत्यों की गणना होती है, जो दूसरों पर प्रत्यक्ष चोट पहुँचाते हैं, पर न जाने क्यों उन अनर्थों को नजरन्दाज कर दिया गया है जो कुप्रचलनो के रूप में घड़ल्ले

से चलते भी हैं और सम्मान भी पाते हैं । दुर्गुणों एवं दुर्व्यसनों को इसी स्तर का समझा जा सकता है, जो मात्र अभ्यस्त को ही हानि नहीं पहुँचाते वरन् अपनाये जाने की प्रेरणा देकर अन्यान्यों को भी वैसे ही अनुकरण के लिये उकसाते हैं । ऐसे अनर्थों में खर्चीली शादियों को प्रमुख माना जाना चाहिये । इन्हें रोकने के लिये वे सभी प्रयत्न किये जाने चाहिये जिनसे न केवल विरोध की आवाज उठे, वरन् जहाँ वह किया जा रहा हो वहाँ असहयोग बहिष्कार की भी आन्दोलनपरक प्रक्रिया जा पहुँचे ।

इस आन्दोलन को आरंभ करने के लिये प्रथम चरण यह होना चाहिये कि जन-जन को खर्चीली शादियों के कारण होने वाली हानियों से अवगत कराया जाय । इस हेतु लेखनी और वाणी के माध्यम से वह स्वर उभारे जायँ तो अनर्थ के अभ्यस्तों को वापिस लौटने के लिये बाधित करें ।

इस संदर्भ में एक प्रतिज्ञा आन्दोलन चलाया जाय जिसमें किशोर, तरुण और प्रौढ़, वृद्ध नर-नारी यह प्रतिज्ञा करें कि वे न तो खर्चीली शादियों के लिये सहमत होंगे और न उनमें किसी प्रकार का समर्थन प्रदान करेंगे । इसके अतिरिक्त यह असहयोग भी चल पड़ना चाहिये कि जहाँ समझाने के प्रयास असफल हो चलें वहाँ असहयोग का प्रयोग करके अपने रोष एवं विरोध का परिचय दिया जाय । इस प्रकार की प्रतिज्ञायें कराई जाँय और उन प्रतिज्ञा पत्रों को महत्वपूर्ण उपलब्धियों के रूप में विज्ञापित किया जाय । जन-समारोहों में उनका प्रदर्शन करके जताया जाय कि समझदारी सर्वथा चली नहीं गयी है । भटक जाने के बाद अब वह वापिस भी लौट रही है । अपने समाज को केवल अनर्थ ही अभीष्ट नहीं है, वरन् वह सुधार और सृजन में योगदान देने के लिये कटिबद्ध हो रहा है ।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ.प्र.)